वैदिक संस्कृति

ॐ 卐 ॐ 卐 ॐ 卐 ॐ 卐 ॐ 卐 ॐ 卐 ॐ 卐 ॐ 卐

अनुक्रमणिका

डॉ. आचार्य सत्यानन्द 'नैष्ठिक'

एम. ए. (वेद, संस्कृत) के

'भजन संगीत सागर'

पुस्तक से साभार, विद्यार्थी - नामदेव

मुंबई
महाशिवरात्री
दि. ८.३.२००५

ॐ 卐 ॐ 卐 ॐ 卐 ॐ 卐 ॐ 卐 ॐ 卐 ॐ 卐 ॐ 卐

ओ३म् और ईश्वरभक्ति

इस संसार की रचना करने वाली, धारण करने वाली और प्रलय करने वाली जो परम शक्ति है, उसे **'परमेश्वर'** कहा जाता है। वेदादि शास्त्रों में प्रकरणानुसार उसे **ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म, भगवन्, ओम्** आदि अनेक नामों से पुकारा गया है, किन्तु सब नामों में सर्वोत्तम और मुख्य नाम **'ओम्'** है। अन्य सभी नाम इसके अन्तर्गत हो जाते हैं। 'अवति इति ओम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सभी प्राणियों का रक्षक होने के कारण परमात्मा का नाम 'ओम्' है। इस सर्वोत्तम नाम 'ओम्' से परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए। उपनिषदों में 'ओम्' नाम की महिमा का अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है-

''तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओंकारः संप्रास्रवत्'' - छां॰ उप॰ २.१३.३

अर्थात्- उन प्रकाशित वेदों से 'ओम्' यह पद प्रकट हुआ है।

''ओमिति ब्रह्म । ओम् इतीदं सर्वम्'' - तैत्तिरीय उपनिषद्

अर्थात् - 'ओम' यह ब्रह्म का नाम है। ओम् ही सब कुछ है अर्थात् यह समग्र जगत् उसी में समाया हुआ है, वही उसका कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता है।

''ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत'' - छां॰ उप॰ १.४.१

अर्थात् - 'ओम्' नाम वाला अविनाशी परमात्मा जो गुणगान करने योग्य है, उसकी 'ओम्' नाम द्वारा उपासना करे।

परमेश्वर एक है। वह निराकार, सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापक है। वह कभी आकार यां अवतार ग्रहण नहीं करता इसलिए उस परमात्मा की कोई मूर्ति नहीं बन सकती। जो लोग परमात्मा की मूर्ति बनाकर उपासना करते हैं, वे पत्थर की पूजा करते हैं, परमात्मा की नहीं। परमात्मा की उपासना तो जप-ध्यान से आत्मा में की जाती है। शुद्ध आत्मा में ही उसका प्रत्यक्ष होता है। परमात्मा का वास्तविक स्वरूप निम्नलिखित वेदमन्त्र में बतलाया गया है। हमें उसी स्वरूप के अनुसार उसका ध्यान करना चाहिए।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।। -यजुः ० ४०.८

अर्थात्-'वह परमात्मा सब में व्यापक, शीघ्रकारी और अनन्त बलवान् जो शुद्धरूप, सर्वज्ञ, सबका अन्तर्यामी, सर्वोपरि विराजमान, सनातन, स्वयंसिद्ध परमेश्वर अपनी जीवनरूप सनातन अनादि प्रजा को अपनी सनातन विद्या से यथावत् अर्थो का बोध वेद द्वारा कराता है।' आर्यसमाज के दूसरे नियम में ऋषि दयानन्द ने ईश्वर के स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट किया है-**"ईश्वर सच्चिदानन्द-स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।"** अर्थात् वह परमात्मा सत्यस्वरूप, चेतन और आनन्दस्वरूप है। वह कभी कोई आकार धारण नहीं करता। अपने सृष्टि-उत्पत्ति-संचालन आदि कार्यों में किसी की सहायता नहीं लेता। वह सदा न्याय ही करता है, अन्याय कभी नहीं करता। जीवनोपयोगी वस्तुएँ देकर और कर्मो का यथावत् फल देकर तथा उत्तम प्रेरणाएँ देकर वह सब पर दया करता है। वह कभी जन्म धारण नहीं करता। उसका कोई अन्त नहीं है। उसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का कोई विकार पैदा नहीं होता। न वह घटता-बढ़ता, गलता-सड़ता है। उसका कोई आदि नहीं है। उस जैसा गुणों वाला कोई नहीं है। वही सबका आधार है। वह सबका स्वामी है। वह सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है। सबके हृदयों में रहकर सबके अन्तःकरण की बातों को जानता है। न कभी बूढ़ा होता है, न मरता है। भय से रहित है। सदा से है, सदा रहेगा। वह शुद्ध पवित्र है। इस समग्र जगत् की उत्पत्ति उस परमात्मा ने ही की है। वही स्तुति-प्रार्थना-उपासना के योगय है, अन्य कोई देवी-देवता नहीं। स्तुति-प्रार्थना-उपासना करने से यह परमात्मा सबका कल्याण करता है, सबको सन्मार्ग दिखाता है।

प्रश्न उठता है कि जब परमात्मा आकार धारण नहीं करता और आँख

आदि से दिखाई नहीं पड़ता तो परमात्मा के अस्तित्व का ज्ञान कैसे हो सकता है? सूक्ष्म वस्तुओं का ज्ञान गुणों से हुआ करता है। सृष्टि रचना, कर्मफल आदि से परमात्मा का ज्ञान होता है। और बुरे काम करते समय आत्मा में जो भय, शंका, लज्जा आदि का अनुभव होता है तथा अच्छे कामों में उत्साह-- आनन्द होता है, वह परमात्मा की ओर से ही होता है। जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार-ध्यान करता है तो उसको अपने आत्मा में परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को प्रतिदिन संध्या, यज्ञ, जप-ध्यान आदि द्वारा परमात्मा की स्तुति-प्रार्थना-उपासना करनी चाहिए। ज्ञानस्वरूप परमात्मा की उपासना से मनुष्य ज्ञानी बनता जाता है और मूर्ति आदि जड़ पदार्थों की पूजा से बुद्धि जड़ होजाती है। इसलिए जड़ पदार्थो की पूजा कभी नहीं करनी चाहिए।

***

ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना से लाभ

ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना से अभिप्राय यह है कि उसके गुण कीर्तन के स्मरण के साथ-साथ अपने जीवन में उन गुणों का विकास करना । इसके बिना उपासना व्यर्थ है। सच्ची उपासना के अनेक लाभ हैं-

१. ईश्वर की स्तुति से ईश्वर के प्रति प्रीति उत्पन्न होती है। उसके गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव का सुधार होता है।

२. प्रार्थना से निरभिमानिता, विनम्रता आदि गुण आते हैं। अच्छा जीवन बनता है। उन्नति होती है। सदा सर्वदा ईश्वर का सहाय प्राप्त होता है।

३. इन्द्रियों पर नियन्त्रण रहता है । मनुष्य पापकर्मों से बचता है। ईश्वर को सर्वव्यापक जानकर मनुष्य एकान्त में भी पाप-अपराध नहीं करता। इस

प्रकार अच्छे संस्कार बनते हैं।

४. ईश्वर के प्रति समर्पण से मनुष्य दुःखी नहीं होता । सहनशील बनता है। संतुष्ट जीवन जीता है । मन पर बुराइयों का भार नहीं होता । मन तनावरहित रहता है । जीवन सुखमय बनता है ।

५. बुद्धि का विकास होता है, स्मरणशक्ति बढ़ती है, एकाग्रता की सिद्धि होती है । पवित्रता आती है।

६. अच्छे संस्कारों से अच्छे व्यक्ति का निर्माण होता है। अच्छे व्यक्ति से अच्छे परिवार और समाज का निर्माण होता है। इससे पारिवारिक और सामाजिक सुख तथा उन्नति होती है।

७. उपासना से परमात्मा से मेल और उसका साक्षात्कार होता है। साक्षात्कार से मुक्ति प्राप्त होती है और इस प्रकार मानव जन्म-मरण के प्रवाह से छूटकर दुःखों से रहित हो जाता है।

इसके विपरीत परमात्मा की उपासना न करने वाला दुर्गुणों से युक्त, अन्यायी, अत्याचारी, छली, कपटी और कुसंस्कारी बनता जाता है। इससे वह भी दुःखी होता है और समाज का भी पतन होता है। अतः हमें सच्ची आस्था और श्रद्धा से ईश्वर की भक्ति करनी चाहिए-

''नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय''

इस संसार सागर को पार करने के लिए प्रभु भक्ति के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

ओ३म् ध्वजा

ध्वजा किसी भी राष्ट्र या समुदाय की भावनाओं की प्रतीक, समुदाय की पहचान और उसकी नीतियों तथा लक्ष्यों की परिचायिका होती है। ध्वजा के फहराते रहने में उस राष्ट्र या समुदाय का गौरव और उत्थान होता है तथा झुकने में उसका पतन । इसलिए प्रत्येक राष्ट्र और समुदाय बड़े यत्न से अपनी ध्वजा की सुरक्षा करता है और उसके सम्मान का ध्यान रखता है। राष्ट्र में ध्वजा का सम्मान कितना आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है, इसका अनुमान इस बात से ही लगाया जा सकता है कि प्रत्येक राष्ट्र में ध्वजा का अपमान करना दण्डनीय अपराध घोषित है।

'ओ३म् ध्वजा' आर्य संस्कृति की ध्वजा है । आर्यत्व की प्रेरिका और परिचायिका है । यह विश्व की प्राचीनतम वह ध्वजा है जिसके नीचे एकत्र होकर आर्यों ने समस्त विश्व में "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" का उद्घोष फैलाया था । इसी ध्वजा के नीचे एकत्र होकर विश्वगुरू भारत ने संसार को आध्यात्मिकता का संदेश दिया था । इसी ध्वजा के नीचे एकत्र होकर आर्यों ने विश्व के अनेक देशों में आर्यसाम्राज्य की स्थापना की थी। आर्यों का समग्र इतिहास 'ओ३म् ध्वजा' से जुडा हुआ है । 'ओ३म् ध्वजा' आर्य जाति की आन, बान और शान है।

'ओ३म्' नाम से अंकित गेरुवे रंग की 'ओ३म् ध्वजा' अपने प्रतीकों में कई महान् संदेश लिए हुए हैं। ध्वजा का गेरुवा रंग त्याग और बलिदान का प्रतीक है, जो यह सन्देश देता है कि संसार में रहते हुए मनुष्य को लिप्त नहीं होना चाहिए अपितु निर्लिप्त और त्यागभाव से संसार में रहना चाहिए । यजुर्वेद के इस प्रसिद्ध मन्त्र का सम्पूर्ण सन्देश इस ध्वजा में निहित है-

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ।।

- यजु:० ४०.१

अर्थात्-'हे मनुष्य! इस सम्पूर्ण जगत् में जो भी कुछ है वह ईश्वर का है यह मानकर उसके द्वारा दिये हुए धन का उपभोग कर। किसी दूसरे के धन का लालच मत कर ।' अवसर आने पर अपने धन का समाज और राष्ट्र के लिए भी त्याग करने के लिए तत्पर रहना चाहिए जैसे देशभक्त महाराणा प्रताप की सहायता के रूप में भामाशाह ने किया था ।

इसके अतिरिक्त यह ध्वजा हमें संदेश देती है कि संकट की स्थिति में आर्यों को अपने देश और जाति की रक्षा के लिए बलिदान के लिए तैयार रहना चाहिए । किसी भी स्थिती में ध्वजा को झुकने नहीं देना चाहिए ।

इस ध्वजा पर अंकित 'ओ३म्' नाम ईश्वर का प्रमुख नाम है, जिसकी वाणी वेदवाणी है । जो यह संकेत देता है कि इस ध्वजा को स्वीकार करने वाले लोग 'ओ३म्' नामक सर्वव्यापक ईश्वर को मानने वाले हैं और उसकी वाणी 'वेदवाणी' के अनुयायी हैं । इन लोगों का लक्ष्य है संसार में ओ३म् के स्वरूप का ज्ञान देना तथा वैदिक संस्कृति का प्रचार-प्रसार करना। कहीं भी लहराती हुई 'ओ३म् ध्वजा' उसके आर्यत्व की सूचक है और उसे वैदिक कर्त्तव्यों के पालन की प्रेरणा देती रहती है। आर्यों को इस ध्वजा पर गर्व है और सदैव उनकी कामना रहती है-

"लहराये लहराये जग में झण्डा प्यारा ओम् का"

आत्मा-जीवात्मा

शास्त्रों में कहा गया है कि ईश्वर, जीव और प्रकृति, ये तीन पदार्थ अनादि और नित्य हैं । ईश्वर इस सृष्टि का कर्त्ता-धर्त्ता-संहर्त्ता और कर्मफल के अनुसार जीवों को जन्ममृत्यु प्राप्त कराने वाला है । जीवात्मा कर्मानुसार फल का भोक्ता और स्वतन्त्र रूप से कर्मकर्त्ता है। प्रकृति जीव के लिए सृष्टि के रूप में प्रस्तुत होती है । इस प्रकार यह सृष्टिचक्र आदिकाल से चल रहा है और जीव इसमें कर्मानुसार जन्म-मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं।

जीवात्मा प्राणियों के शरीर में सूक्ष्म और अणुरूप में विद्यमान रहकर उसका संचालन करता है । जब तक जीवात्मा शरीर में विद्यमान रहता है तब तक वह जीवित कहलाता है और जब शरीर को त्याग देता है तो मृत्यु कहलाती है। वर्तमान विज्ञान अभी तक इतना समर्थ नहीं हो पाया है कि वह किसी यन्त्र द्वारा सूक्ष्माति सूक्ष्म जीव को देख सके अत: वह जीवात्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। किन्तु प्रत्यक्ष को प्रमाण की आवश्यकता नही होती। हम प्रत्यक्ष देखते है कि खेलता-हँसता प्राणी अचानक निष्क्रिय हो जाता है । सभी इन्द्रियाँ और अंग काम करना बंद कर देते हैं। शरीर वही होता है किन्तु डाक्टर-वैद्य भरपूर कोशिश करके भी उसमें चेतना को नहीं लौटा पाते। इससे ज्ञात होता है कि कोई ऐसी शक्ति शरीर से भिन्न है जिसके रहने पर शरीर में जीवन रहता है, न रहने पर जड़ता आ जाती है। यही शक्ति 'जीवात्मा' कहलाती है। दर्शनशास्त्र में जीवात्मा की पहचान निम्नलिखित लक्षणों से बतायी गयी है-

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदु:खज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ।- न्यायदर्शन

अर्थात्-इच्छा = पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा, द्वेष = दु:ख आदि की अनिच्छा, प्रयत्न = पुरुषार्थ, सुख = आनन्द, दु:ख = अप्रसन्नता, ज्ञान = विवेक, ये आत्मा की पहचान कराने वाले छह लक्षण हैं । अर्थात् ये जहाँ होते हैं वहां आत्मा की प्रतीति होती है ।

जीवात्मा नित्य और अविनाशी है। यह कभी नहीं मरता। जिसको संसार में मृत्यु कहते हैं, वह इसका शरीर बदलना मात्र है, जैसे मनुष्य वस्त्र बदलता है । जीवात्मा इस संसार में अच्छे- बुरे कर्मो के अनुसार सुख-दुःख, शरीर आदि को प्राप्त करता है । जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है किन्तु फल भोगने में ईश्वरीय व्यवस्था के अधीन है । कर्मफल कभी नष्ट नहीं होता । वह उसे भोगना ही पड़ता है। बुरे कर्मों से उसे कीट-पतंग, पशु-पक्षी आदि की योनि प्राप्त होती है । **अच्छे कर्मों से मनुष्य का जन्म प्राप्त होता है।** परजन्म में मनुष्य का जीवन पाने के लिए श्रेष्ठ कर्मो का करना आवश्यक है। इस संसार से जीवात्मा के साथ कोई पदार्थ नहीं जाता केवल उसके कर्मसंस्कार जाते हैं । उन्ही के आधार पर उसे अच्छा-बुरा जन्म मिलता है ।

जीवात्मा का चरम लक्ष्य है - 'मोक्षप्राप्ति' । यह मोक्षप्राप्ति मनुष्यजीवन में ही सम्भव है, अन्य किसी योनि में नहीं। जीवात्मा श्रेष्ठकर्म, ज्ञानप्राप्ति और ईश्वर दर्शन से मोक्ष पाने का अधिकारी बनता है । ईश्वर के दर्शन उसे ज्ञान और योगसाधना द्वारा अपने स्वरूप में ही होते हैं। तब उसके सारे बन्धन, अज्ञान-अविद्या, दुःख, कर्मसंस्कार आदि मिट जाते हैं और वह परमात्मा की शरण में रहकर आनन्द का उपभोग करता है। जीवात्मा अनेक सृष्टिकाल तक मुक्ति में रहता है। मुक्तिकाल का उपभोग कर जीवात्मा फिर संसार में जन्म धारण करता है। इस प्रकार अनादि-अनन्त काल तक यह सृष्टिचक्र चलता रहता है

मनुष्य

दो हाथ-दो पैर वाले विशेष आकृति वाले प्राणी को 'मनुष्य' नाम दे दिया गया है । किन्तु विशेष आकृति होने मात्र से कोई मनुष्य नहीं बनता । मनुष्य तो विशेष आचरण से और मननशीलता से बनता है । आचार्य यास्क मनुष्य की परिभाषा करते हुए कहते हैं-

''मत्वा कर्माणि सीव्यति, इति मनुष्यः''

अर्थात् 'जो मनन करके, अच्छे-बुरे कार्यो पर विचार करके अच्छे कार्य करता है, वही मनुष्य है ।' इसके विपरीत कार्य करनेवाला अन्य पशुओं के समान एक पशु तुल्य है, क्योंकि तब उसके और पशुओं के कर्मों में कोई भिन्नता नहीं होती । कहा भी है ।

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषः धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ।।

अर्थात्-खाना-पीना, सोना, भयभीत होना, मैथुन, ये कार्य तो पशुओं और मनुष्यों में समान हैं । धर्म = श्रेष्ठ आचरण ही मनुष्य का पशुओं से विशेष कर्म है । उससे रहित व्यक्ति पशुतुल्य ही हैं । इसीलिए वेद उपदेश देता हुआ कहता हैं

''मनुर्भव'' = 'हे लोगो! तुम वास्तव में मनुष्य बनो ।' इसका अभिप्राय यह है कि जितनी भी पशुप्रवृत्तियाँ हैं, उनका त्याग कर हमें मानवता को धारण करना चाहिए । मनुष्य योनि सबसे उन्नत योनि है। इस जन्म में परमात्मा ने जो सबसे निराली वस्तु दी है वह है बुद्धि । अन्य प्राणियों में विकासशील बुद्धि नहीं है। मनुष्य बुद्धि के अनुसार विचार कर मानव हितकारी कार्य करे, यही बुद्धि प्राप्त करने का लाभ है। बुद्धि के विकास से मनुष्य जीवन तथा सृष्टि का विकास करता है । आज मनुष्य ने बुद्धि के द्वारा असीमित भौतिक उन्नति की है । किन्तु वह आध्यात्मिक उन्नति में पिछड़ता जा रहा है, जो कि मानवता के लिए अति आवश्यक है । आध्यात्मिकता के बिना मानवता का विकास नहीं हो सकता ।

मनुष्य जीवन दुर्लभ है। सत्कर्मों के परिणामस्वरूप यह प्राप्त होता है । इस नर तन को पाकर हमें इसे पापों और विषयवासनाओं में बरबाद नहीं करना चाहिए अपितु शुभकर्मों और उच्च आदर्शों से इसे सफल बनाना चाहिए । मनुष्य का वास्तविक लक्ष्य है- मोक्षप्राप्ति । मोक्षप्राप्ति मनुष्यजीवन में ही सम्भव है । यह अवसर खो देने के बाद पता नहीं फिर यह जन्म हाथ लगे अथवा नहीं । शुभ

कर्मों से प्राप्त इस जन्म का हमें अगले जन्म को और अधिक उत्तम बनाने के लिए सदुपयोग करना चाहिए । मनुष्य जन्म संसार-सागर से पार ले जाने वाली नौका के समान है ।

आज का मानव दानव बनता जा रहा है । अपने स्वार्थ के लिए वह दूसरे मानव की हानि करने में नहीं हिचकता । काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के वशीभूत होकर वह मनुष्य के रूप में पशु बना हुआ है । इसी कारण आज समाज में अपराध और पाप बढ़ रहे हैं, अशान्ति और कष्ट बढ़ रहे हैं । मनुष्य, मनुष्य से भयभीत है, देश, देश से भयभीत है । आज के मनुष्य ने ऐसे संहारक यन्त्र बनाने में गौरव समझा है, जिनसे सम्पूर्ण मानवता, सम्पूर्ण पृथ्वीवासियों के अस्तित्व को खतरा पैदा हो गया है ।

इस विनाशमार्ग से बचने का एक ही उपाय है - वैदिक मार्ग । वेदों के अनुसार चलकर ही मनुष्य का और समाज का कल्याण हो सकता है

●●●

सृष्टि-रचना

हम जिधर दृष्टि दौड़ाते हैं उधर ही सृष्टि के अद्भुत् दृश्य दिखाई पड़ते हैं । कहीं रंग-बिरंगे फूल खिले हैं, कहीं हरे-भरे पेड़-पौधों ने हरीतिया मोहक दृश्य प्रस्तुत किया हुआ है । कहीं हरी-भरी धरती है तो कहीं बालू रेत का मैदान । कहीं ऊँचे-उँचे पहाड़ हैं तो कहीं गहरी घाटियाँ । कहीं कल-कल बहती नदियाँ हैं तो कहीं प्रकृति का गुणगान करते झरने । कहीं विशाल नक्षत्र टिमटिमा रहे हैं, तो कहीं ग्रह-उपग्रह प्रकाशित हो रहे हैं । कहीं सनसनाती वायु है, कहीं जीवनदायक जल । कहीं धन-धान्य से परिपूर्ण पृथ्वी है, कहीं विस्तृत आकाश । कहीं भस्मसात् करने वाली अग्नि है तो कहीं वर्षा से धन्य कर देने वाली विद्युत् । कहीं विविध वर्ण कृमि, कीट, पतंग पक्षी

विचार कर रहे हैं तो कहीं विविध शरीरधारी पशु । और इन सब प्राणियों में सबसे विलक्षण रचना वाला हैं 'मानव', जो अपनी बुद्धि से इस सृष्टि को जानना चाहता है किन्तु पार नहीं पा रहा। लोक-लोकान्तरों से परिपूर्ण अनन्त ब्रह्माण्ड को देखकर प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क में यह प्रश्न उभरता है कि आखिर इस सृष्टि को किसने रचा है और किसलिए रचा है?

सम्पूर्ण रचना को देखकर यह स्वत: ही ज्ञात होता है है कि यह रचना व्यर्थ नहीं हो सकती । यह निश्चय होता है किसी रचयिता के बिना कोई रचना नहीं हो सकती और यह रचना अवश्य किसी न किसी के लिए है । वेद-शास्त्रों ने इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए बतलाया है कि इस सृष्टि का निर्माण प्रकृति नामक तत्व से हुआ है, इसका रचयिता ईश्वर है और जीवात्मा के भोग के लिए इसकी रचना हुई है । प्रकृति इस सृष्टि का उपादान कारण है, परमात्मा मुख्य निमित्त कारण और जीव साधारण निमित्त कारण है । ये तीनों अनादि और अति सूक्ष्म हैं । यह सृष्टि परमात्मा ने रची है । वही इसका रचयिता है, वही धारणकर्त्ता है, और वही समय आने पर इसका प्रलय करता है । एक वेदमन्त्र में इस रहस्य को समझाया गया है-

इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ।।

- ऋग्वेद १०.१२९.७

अर्थात् - 'हे मनुष्य ! यह सृष्टि जिससे उत्पन्न अर्थात् प्रकट हुई है, जो उत्पन्न करके इसका धारणकर्त्ता है, वही इसका प्रलयकर्त्ता है । वही इस सृष्टि में सर्वोपरि है और इसके कण-कण में व्याप्त है, वह परमात्मा है । उसी को तुम सृष्टिकर्ता जानो, अन्य किसी को सृष्टिकर्त्ता मत मानो ।'

एक अन्य मन्त्र में ईश्वर, जीव और प्रकृति की स्थिति को समझाया गया है कि इस सृष्टि में इनकी क्या भूमिका है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ।।

- ऋग्वेद १.१६४.२०

आलंकारिक वर्णन के द्वारा वेद समझाते हुए कहता है कि यह सृष्टिरूपी अनादि वृक्ष है । इस पर ब्रह्म और जीव रूपी दो पक्षी बैठे हुए हैं । दोनों पालन करना और चेतना गुणों से समान हैं, व्याप्य-व्यापक भाव से संयुक्त हैं, सनातन, अनादि होने से मित्र हैं । किन्तु उनमें से जीव सृष्टिरूपी वृक्ष के फलों का भोक्ता है जबकि परमात्मा भोक्ता न होता हुआ सर्वत्र विराजमान होकर सबका द्रष्टा है। इस कथन से यह ज्ञात होता है कि यह सम्पूर्ण सृष्टि जीव के लिए है। यही कारण है कि जब सृष्टि उत्पत्ति होती है तो जल, वायु, पृथिवी, वृक्ष, वनस्पति आदि सभी पदार्थ पहले उत्पन्न होते हैं, मनुष्य सबके बाद उत्पन्न होता हैं। इनके बिना मनुष्य की स्थिति संभव नहीं हैं ।

जब सृष्टि उत्पन्न होती है तो पूर्व कर्मफल के अनुसार अच्छे बुरे, हिंसक-अहिंसक अनेक प्राणी उत्पन्न होते हैं । मनुष्य भी कर्मफल के अनुसार अनेक उत्पन्न होते हैं । विशेष संस्कारों वाले ऋषि-मुनि आदि विशेष व्यक्ति बनते हैं और साधारण संस्कारों वाले साधारण मनुष्य । वैदिक समाज व्यवस्था के वर्णनों से ज्ञात होता है कि इस सृष्टि के प्रारम्भ में भी एक साथ अनेक मनुष्यों का जन्म हुआ । उनमें जो सभ्य, शिष्ट और उत्तम संस्कारों के लोग थे उनका नाम 'आर्य' रखा गया और स्वार्थी, क्रूर, हिंसक, छली-कपटी, असभ्य-अशिष्ट आदि कुसंस्कारी व्यक्तियों को 'असुर' और 'राक्षस' कहा गया । आर्यों में फिर कार्य के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ये चार वर्ण निर्मित हुए । इस प्रकार समाज व्यवस्थाबद्ध होकर उन्नति करने लगा ।

महर्षि दयानन्द की मान्यता के अनुसार मनुष्य की प्रथम सृष्टि त्रिविष्टप अर्थात् तिब्बत में हुई । वहीं से लोग धीरे-धीरे सारे संसार में फेलै। इस भारतभूमि को निवासयोग्य मानकर जब आर्य लोग यहाँ आकर बसे तब इस देश का नाम

'आर्यावर्त' पड़ा ।

प्रकृति सूक्ष्म पदार्थ है । सृष्टि का जो कुछ भी दृष्यमान पदार्थ है वह वस्तुत: प्रकृति का विकार है । प्रकृति का विकार होते हुए भी, वह क्योंकि प्रकृतिमूल से बना है अत : बोलचाल में प्रकृति ही कह दिया जाता है । इस सृष्टि के सभी स्थूल पदार्थ, सभी प्राणियों के शरीर पाञ्चभौतिक कहलाते हैं क्योंकि वे अग्नि, वायु, जल, पृथिवी और आकाश इन पाँच सूक्ष्म तत्वों से बने हैं। नष्ट होकर वे पदार्थ पुन: अपने-अपने तत्व में मिल जाते हैं । सृष्टि-उत्पत्ति की प्रक्रिया को सांख्यदर्शन ने एक सूत्र में इस प्रकार समझाया है -

''सत्त्व-रजस्-तमसां साम्यावस्थाप्रकृतिः । प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारः, अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि-उभयमिन्द्रियम्, पञ्चतन्मात्रेभ्य : स्थूलभूतानि, पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गण : ।''

अथार्त्-सत्त्व, रज और तम नामक तीन सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों के समान संघात का नाम प्रकृति है । उनसे जब सृष्टि बनने लगती है तो उनका कुछ स्थूल रूप महत्तत्व, और उससे कुछ स्थूल अहंकार कहलाता है । अहंकार से पाँच सूक्ष्म भूत और दस इन्द्रियाँ तथा मन बनते हैं । पाँच सूक्ष्मभूतों से पाँच स्थूलभूत और विविध पदार्थ बनते हैं । यह शरीर भी पंचमहाभूतों से बनता है और जब इससे जीव का संयोग होता है तो चेतन प्राणियों की संरचना होती है । प्रलयका में स्थूल पदार्थ विखण्डित होकर सूक्ष्मरूप होते जाते हैं और प्रकृति अपने साम्यरूप में आ जाती है।

जैसी यह सृष्टि अब है, प्रत्येक कल्प-कल्पान्तर में इसी प्रकार बनती है । ऋग्वेद के एक मन्त्र में इस तथ्य को स्पष्ट किया हैं-

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ।। (१०.१९०.३)

अर्थात् 'सृष्टि को रचकर धारण करने वाले परमात्मा ने सूर्य, चन्द्रमा,

पृथिवी, विद्युत्, आकाश, अन्तरिक्ष आदि को जैसा पूर्वकल्पों में बनाया था, वैसा ही इस कल्प में बनाया है।' जीवों के कर्म करने और मोक्ष प्राप्ति के लिए इस सृष्टि का निर्माण हुआ है।

❖❖❖

मृत्यु

मृत्यु !!! यह एक ऐसा शब्द है जिसको सुनते ही मनुष्य चौंक उठता है, काँप उठता है, भयभीत हो जाता है। जीवन के नष्ट हो जाने का, सगे-सम्बन्धियों और ठाठ-बाट के छूट जाने का, संसार से चले जाने का, भय उसे व्याकुल कर देता है। मृत्यु का मार्ग वास्तव में इतना एकाकी है कि उस पर जीवात्मा अकेला जाता है , बिल्कुल अकेला और जीवन भर कमाने के बाद भी खाली हाथ !

मृत्यु!!! एक ऐसी सच्चाई है जो संसार में उत्पन्न होने वाले प्रत्येक प्राणी को निगल जाती है। राजा से लेकर रंक तक, कृमि से लेकर हाथी तक सभी इसके सामने बराबर हैं, असहाय हैं, विवश हैं। सभी इससे बचना चाहते हैं, किन्तु कोई बच नहीं पाता। असंख्य मर चुके हैं, असंख्य मर रहे हैं, शेष भी नहीं बच पायेंगे। किन्तु महान् आश्चर्य तो यह है कि बचे हुए लोग इस प्रकार का व्यवहार करते हैं जैसे उन्हें कभी मरना ही नहीं। वे पाप करते हैं, अपराध करते हैं, अभिमान के वशीभूत होकर दूसरों को सताते हैं, मोह ममता में भटक रहे हैं। स्वार्थ के मायाजाल में फँसकर दूसरों की हानि करते हैं। सैकड़ों भावी वर्षों की योजनाएँ इस प्रकार बनाते हैं जैसे उन्हें इस संसार से कभी जाना ही नहीं। महाभारत में युधिष्ठिर ने लोगों की इस मानसिकता को ही सबसे बड़ा आश्चर्य कहा है।

मृत्यु क्या है? मृत्यु नाम है शरीर से जीवात्मा के अलग होने का, शरीर-संघात के पंचभूतों में विलीन होने का। जीवात्मा जब शरीर को छोड़ता है तब प्राण भी छोड़ जाते हैं। शरीर चेतनाहीन होकर जड़वत् हो जाता है। जीवात्मा

अन्य किसी शरीर में जन्म ग्रहण कर लेता है । वह कभीं नहीं मरता । गीता ने इस स्थिति को इस प्रकार समझाया है-

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृण्हाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।

-गीता २.२२

अर्थात् - 'जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को उतार नये धारण कर लेता है उसी प्रकार जीवात्मा भी पुराने शरीर को त्यागकर नया शरीर धारण कर लेता है ।' जीवात्मा के इसी परिवर्तन को संसार में 'मृत्यु' कहा जाता है ।

मृत्यु अवश्यम्भावी है । जो अवश्यम्भावी है उस पर शोक करना व्यर्थ है। जीवात्मा का इस शरीर के साथ, कर्मफल के अनुसार जितना संयोग होता है, वह पूरा होते ही वह किसी अन्य शरीर में चला जाता है । यह सब व्यवस्था ईश्वर की है । ईश्वर न्यायकारी है, वह कभी अन्याय नहीं करता । यह समझकर शोक भी नहीं करना चाहिए ।

प्रश्न उठता है-जब मृत्यु अवश्यम्भावी है तो शास्त्रों में मृत्यु से बचने की, मृत्यु पर विजयी होने की बात क्यों कहीं गयी है ? इसका उत्तर यह है कि मृत्यु पर विजय तीन प्रकार से होती है । एक-सदाचार, सत्कर्म आदि के अनुष्ठान से पूर्ण आयु का भोग करना अर्थात् पूर्ण आयु से पूर्व अथवा अकाल मृत्यु न होना। दूसरी - योगाभ्यास से मोक्ष प्राप्त करके जन्म-मरण के चक्र से छूट जाना । तीसरी-धीर, वीर बलिदानी और ज्ञानी बनकर उन्नत होना । जो जन मौत को तुच्छ मानकर निर्भय होकर स्वीकार करते हैं वे हँसते हुए जाते हैं । यह मृत्यु की साक्षात पराजय है। मनुष्य जब किसी भी उपाय से मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है फिर मृत्यु भयानक और कष्टकरी नहीं होती ।

***

सत्संगति

सत्संगति का अभिप्राय है - श्रेष्ठ सदाचारी व्यक्तियों का साथ । मनुष्य के जीवन पर, विशेष रूप से बाल्यावस्था में साथी-संगियों का विशेष प्रभाव पड़ता है । जैसे अच्छे या बुरे संगी-साथी होंगे, मनुष्य का आचरण भी वैसा ही बन जाता है । इसलिए बुराई से बचने के लिए तथा अच्छा बनने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य सदा अच्छे लोगों का साथ करे ।

साथ का प्रभाव जड़ पदार्थों पर भी पड़ता है फिर चेतन पदार्थ तो संग से बच ही नहीं सकते । एक ठण्डे और एक गरम पानी के गिलास को अगर साथ-साथ रख दें तो एक-दूसरे के प्रभाव से ठंडा तो गरम और गरम, ठण्डा होने लगता है । इसी प्रकार बुरे के प्रभाव में आकर अच्छा व्यक्ति बुरा और बुरा व्यक्ति अच्छा बनने लगता है । मनुष्य की आत्मा पर संगति के संस्कार पड़ते हैं । जैसे संस्कार पड़ते हैं वैसा ही आचरण बनता है । फिर उसी के अनुसार अगला जन्म निर्धारित होता है । इस प्रकार बुरी संगति से बचने तथा अच्छी संगति करने का दूरगामी प्रभाव पड़ता है । सत्संगतिसे जन्म-जन्मान्तर तक सुधर जाता है और बुरी संगति से बिघड जाता है ।

माँ-बाप को बाल्यकाल से ही बच्चे के संस्कारों का निर्माण करना चाहिए । संस्कृत भाषा में माता की निरुक्ति करते हुए कहा है- **''माता निर्मात्री भवति''** अर्थात् बच्चों के जीवन का निर्माण करने वाली को ही वस्तुतः माता कहा जाता है । माता ही सर्वप्रथम बच्चे के संस्कारों का निर्माण करती है । बड़ा होकर वह उसी प्रकार के आचरण वाला बनता है । अच्छे संस्कारों वाला बच्चा वंशवर्धक और माता-पिता का सेवक होता है और बुरे संस्कारों वाला परिवार को पतन के मार्ग पर ले जाता है तथा माता-पिता को कष्ट देता है । आज के युग में परिवार टूट रहे हैं । माता-पिता आदि बुजुर्ग बिना सेवा-संभाल के कष्ट भोग

रहे हैं, इसका मूल कारण है बच्चों में अच्छे संस्कारों का निर्माण न होना, श्रेष्ठ जनों की संगति और शिक्षा का अभाव। जो माता-पिता अपनी सन्तानों को अच्छे संस्कार देते हैं, अच्छी संगति देते हैं, वे सन्तान के भविष्य का तो निर्माण करते ही हैं, साथ ही अपने भावी जीवन को भी सुखमय बनाते हैं। सत्संगति की महिमा अपार है। महाराज भर्तृहरि कहते हैं -

जाड्यं धियो हरति सिंचति वाचि सत्यम्
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।
चेत:प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्त्तिम्
सत्संगति:कथय किं न करोति पुंसाम्?

- नीतिशतक २३

अर्थात् - 'सत्संगति मनुष्यों का क्या लाभ नहीं करती? अर्थात् बहुत लाभ करती है। सत्संगति बुद्धि की जड़ता को समाप्त कर उसे तीव्र बनाती है। वाणी में सच्चाई का संचार करती है। सम्मान को बढ़ाती है। पापाचरण से दूर रखती है। मन को प्रसन्न रखती है। चारों दिशाओं में यश प्राप्त कराती है।' इस प्रकार श्रेष्ठ पुरुषों की संगति के अनेक लाभ हैं। यों कहिए कि सत्संगति मनुष्य को वास्तव में मनुष्य बनाती है। एक अन्य कवि ने सत्संगति की महिमा का इन शब्दों में वर्णन किया है -

चन्दनं शीतलं लोके चन्दनादपि चन्द्रमा: ।
चन्दनचन्द्रयोर्मध्ये शीतला साधुसंगति: ।।

अर्थात्-'लोक में चन्दन शीतलतादायक है, चन्दन से भी अधिक शीतल चन्द्रमा है किन्तु साधुओं की संगति इन दोनों से भी बढ़कर शीतल अर्थात् सुख-शान्ति देने वाली है।' इसलिए वेद ने मानवों को आदेश दिया है

"जानता संगमेमहि" - ऋग्वेद० ५.५१.१५

हे मनुष्यो ! ज्ञानी जनों का संग किया करो।

◆◆◆

अग्निहोत्र (यज्ञ)

प्रतिदिन अनिवार्य रूप से किये जाने वाले पाँच महायज्ञों में देवयज्ञ दूसरा यज्ञ है, जिसका एक प्रसिद्ध नाम 'अग्निहोत्र' भी है। ऋषि दयानन्द इसका अर्थ करते हुए लिखते हैं - **''अग्नये परमेश्वराय जलवायुशुद्धिकरणाय च होत्रं हवनं यस्मिन् कर्मणि क्रियते तद् अग्निहोत्रम्''** अर्थात् -'अग्नि वा परमेश्वर के लिए जल और पवन की शुद्धि वा ईश्वर की आज्ञापालन करने के अर्थ होत्र जो हवन अर्थात् दान करते हैं, उसे अग्निहोत्र कहते हैं' (पञ्चमहायज्ञविधि)। इसमें वेदमन्त्रों के उच्चारणपूर्वक यज्ञाग्नि में घृत-सामग्री आदि पदार्थों की आहुतियाँ डाली जाती हैं। अन्न, औषधि, वृक्ष-वनस्पतियाँ शुद्ध होती हैं। वर्षा होती है। साथ ही साथ ईश्वरोपासना भी होती है। अग्निहोत्र को प्रजापालक यज्ञ माना गया है, क्योंकि-

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ - मनुस्मृति ३.७६

अर्थात् -'अग्निहोत्र में अग्नि में दी गयी आहुतियाँ सूक्ष्म होकर सूर्य के प्रभावक्षेत्र में पहुँचती हैं। फिर सूर्य, वर्षा के माध्यम से वनस्पति-अन्न आदि में प्रवेश करती है। वर्षा से अन्न होता है और अन्न से प्रजाओं का पालन होता है। इस प्रकार यज्ञ प्रजाओं के पालन में सहायता पहुँचाता है। परोपकारयुक्त और हितकारी कर्म होने के कारण ही यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म घोषित किया है -

''यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'' - शतपथ ब्रा० १.७.१.५

यज्ञ करने वाला व्यक्ति कीट-पतंग से लेकर पशु तक, अन्न से लेकर वृक्षों तक, मित्र से लेकर शत्रु तक सबका उपकार करता है। क्योंकि यज्ञ से जो जलवायु शुद्धि होती है उससे सभी को समानरूप से लाभ होता है। यज्ञ से वातावरण में प्रसन्नता और मन में शान्ति का अनुभव होता है। वेद के एक मन्त्र

में यज्ञ के इस विषयक महत्त्व को इस प्रकार वर्णित किया है-

सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता ।

प्रातः प्रातः गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनसस्य दाता ।।

- अथर्ववेद १९.५५.३-४

अर्थात् - 'अग्निहोत्र सायं और प्रातः दोनों संधी बेलाओं में अनुष्ठित किया जाता है । सायंकाल किया हुआ अग्निहोत्र प्रातःकाल तक वातावरण और मन को प्रसन्न रखता है तथा प्रातःकाल किया हुआ सायंकाल तक प्रसन्नता रखता है ।'

अग्निहोत्र केवल भौतिक दृष्टि से ही उपकारक नहीं है अपितु मोक्षप्राप्ति का साधन भी है । ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों में सैंकड़ों स्थलों पर यज्ञ की महिमा का गान हुआ है -

''नौर्हि वा एषा स्वर्ग्या यदग्निहोत्रम् '' - शत० ब्रा० १२.४.२.७

यह जो अग्निहोत्र है, यह निश्चय ही स्वर्ग को प्राप्त कराने वाली नौका है ।

''अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'' - मैत्रायणी उप० ६.२६

स्वर्ग की कामना वाले को अग्निहोत्र करना चाहिए ।

अग्निहोत्र में ऋतु के अनुसार विशेष ओषधियों की आहुतियाँ देने से रोगों का निवारण भी होता है । व्याधियाँ प्रायः ऋतुओं के सन्धिकाल में उत्पन्न होती हैं अतः उस समय भैषज्य यज्ञों के करने का विधान है -

''भैषज्ययज्ञा वा एते त ऋतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते ।

ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते ।।'' (गोपथ ब्राह्मण उ० १.१९)

अर्थात्- 'ऋतु सन्धिकाल में भैषज्य यज्ञों का प्रयोग किया जाता है क्योंकि तभी व्याधियाँ प्रकट होती हैं ।'

इस प्रकार अग्निहोत्र का अनेक प्रकार से महत्त्व है । इसलिये इसके

प्रतिदिन दोनों संधि बेलाओं में अनुष्ठान का आदेश शास्त्रों में है । अनुष्ठान न करने वाले को पापी माना गया है । कारण यह है कि मनुष्य अपने शरीर से प्रतिदिन अनेक प्रकार की दुर्गन्ध छोड़कर वातारण को दूषित करता है, जिससे लोगों को हानि होती है । यदि यज्ञ के द्वारा उसका प्रतिकार नहीं करता तो उसकी समाज के प्रति गैर जिन्मेदारी है। अत: वह अपराधी है।

अग्निहोत्र प्रतिदिन सायं-प्रात: दोनों सन्धि वेलाओं में करना चाहिए, सायं सूर्यास्त से पूर्व और प्रात: सूर्योदय के पश्चात् । यह दैनिक अग्निहोत्र का नियम है। विशेष और दीर्घ यज्ञों का अनुष्ठान किसी भी समय किया जा सकता है । यज्ञ प्रत्येक समर्थ व्यक्ति को प्रतिदिन दोनों समय करना चाहिए । गृहस्थ के लिए तो यह विधान है कि वह संध्या और यज्ञ किये बिना भोजन न करे । यज्ञ के लिए आपत्कालीन विधान यह है कि यदि कभी दोनों समय यंज्ञ न कर पायें तो उस दिन एक समय यज्ञ करते समय छह-छह माशे की मात्रा में सभी आहुतियाँ दो बार दें । इसी प्रकार पति-पत्नी में से यदि कोई अनुपस्थित हो तो यज्ञ करने वाला अनुपस्थित के नाम की भी आहुतियाँ दे ।

यज्ञ का स्थान शुद्ध-पवित्र, शान्त-एकान्त, जहाँ बाधा रहित वायु का आवागमन हो, ऐसा होना चाहिए अथवा अच्छा यह होता है कि पृथक् यज्ञशाला बनी हो । यज्ञ करने से पूर्व सभी को नित्यकर्म स्नान आदि करके स्वच्छ होना चाहिए तथा वस्त्र भी साफ-सुथरे और सादगीपूर्ण होने चाहिएँ । यज्ञ के पात्र और आसन आदि पृथक् होने चाहिएँ । जिससे उनकी पवित्रता बनी रहे । यज्ञ का अनुष्ठान पूर्ण श्रद्धा के साथ किया जाना चाहिए ।

यज्ञ में बैठने का स्थान सभी के लिए निर्धारित हैं । यजमान दम्पती, संस्कार्य व्यक्ति, उपस्थित जनों का स्थान यज्ञ कुण्ड के पश्चिम में पूर्वाभिमुख है। होता का भी पश्चिम में है । उद्‌गाता का पूर्व में पश्चिम की ओर मुख करके है। अध्वर्यु का उत्तर में दक्षिण की ओर मुख करके है और ब्रह्मा का दक्षिण में उत्तराभिमुख है । पारिवारिक यज्ञ में परिवार के व्यक्ति इन्हीं यज्ञ के कार्यों के

अनुसार अपना स्थान निर्धारित करें। यज्ञ का मुखिया दक्षिण में, मुख्य आहुति देने वाला पश्चिम में, समिधा लगाने वाला उत्तर में और मुख, मन्त्रोच्चारण करने वाला पूर्व में अपना आसन रखे। यज्ञ में पत्नी प्रायः करके पति के दक्षिण में बैठती है। इस प्रकार नियमों का पालन करते हुए प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन यज्ञ करके पुण्य का भागी बनना चाहिए, अपना और परिवार का कल्याण करना चाहिए।

विवाह और गृहस्थाश्रम

'वह' = प्राप्त करना अर्थ वाली धातु से 'वि' उपसर्ग लगाकर 'विवाह' शब्द बनता है; जिसका अर्थ है - 'विधिपूर्वक एक दूसरे को प्राप्त करके पारस्पारिक कर्त्तव्यों को निभाना।' और 'एक दूसरे के पालन-पोषण-संरक्षण' का दायित्व वहन करना। आयुर्वेद के चिकित्सा शास्त्रों में विवाह की आयु पुरुष के लिए पच्चीस वर्ष तथा कन्या के लिए सोलह वर्ष निर्धारित की है। शास्त्र का कथन है कि इससे न्यून अवस्था में विवाह करने से गर्भ का न ठहरना, गिर जाना, रोगी और दुर्बल सन्तान पैदा होना, अल्पायु सन्तान होना आदि दोष होते हैं । अत: श्रेष्ठ और सुखी गृहस्थ जीवन के लिये सही अर्थात् परिपक्व अवस्था में विवाह होना जरूरी है। इस प्रकार शास्त्रोक्त आयु में विधिपूर्वक विवाह करके गृह में रहते हुए गृहस्थ सम्बन्धी कर्त्तव्यों का पालन करना 'गृहस्थाश्रम' कहलाता है।

मनुस्मृति में महर्षि मनु ने आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है। इनमें प्रथम चार आर्यों अर्थात् श्रेष्ठ-सभ्य लोगों के विवाह हैं। बाद के चार अनार्य अर्थात् असभ्य-अश्रेष्ठ लोगों के विवाह हैं। वे हैं - १. ब्राह्मविवाह-कन्या और माता-पिता द्वारा पसन्द किये गये वर से विवाह करना अर्थात् स्वयंवर विवाह। २. दैवविवाह - यज्ञ में उपस्थित विद्वानों के समक्ष यज्ञपूर्वक कन्या को प्रदान करना। ३. आर्ष विवाह। ४. प्राजापत्य-माता-पिता द्वारा दोनों का विवाहयोग्य मानकर विवाह कर देना। ५. आसुरविवाह-धन के लेने-देन के आधार पर विवाह करना। ६. गान्धर्वविवाह-कामभाव से पहले सम्बन्ध बनाकर विवाह करना अर्थात् प्रेमविवाह। ७. राक्षसविवाह -कन्या का अपहरण करके बलात् विवाह करना। ८. पैशाच विवाह-बलात्कापूर्वक कन्या को दूषित करके विवाह करना। उत्तम विधि से विवाह करने पर सन्तान मर्यादायुक्त, प्रसन्नतादायक, सेवाभावपूर्ण उत्तम होती है और गृहस्थ जीवन शान्त और सुखी रहता है।

निन्दनीय विधि से विवाह करने पर सन्तान अमर्यादित, उच्छृंखल, निन्दनीय तथा सेवा न करने वाली होती है । गृहस्थ जीवन दुःखद और अशान्त रहता है ।

यों तो बिना विवाह के भी दम्पती रूप में रहा जा सकता है किन्तु वह जीवन पशुओं जैसा संस्कार और मर्यादाहीन जीवन कहलायेगा । 'विवाह' सभ्य-शिष्ट-उन्नत वैदिक समाज की एक ऐसी व्यवस्था है, जिसका अन्य कोई विकल्प नहीं है। आज के भौतिकवादी युग में भले ही कितनी उन्मुक्त एवं स्वच्छन्दतापूर्ण प्रथाएँ चल रही हों, किन्तु गृहस्थ का वास्तविक सूख तो मर्यादाओं और व्यवस्थाओं से ही प्राप्त हो सकता है ।

विवाह करके गृहस्थाश्रम के सेवन का उद्देश्य केवल काम संतुष्टि नहीं हैं अपितु श्रेष्ठ सन्तानोत्पत्ति से 'पितृ ऋण' चुकाना और अन्य तीन आश्रम वालों के पालन-पोषण का दायित्व निभाना भी है । माता-पिता ने अनेक कष्ट उठाकर हमें जन्म दिया, हमारा पालन-पोषण करके हमें स्वस्थ, समर्थ, स्वावलम्बी बनाया । इसलिये प्रत्येक मनुष्य अपने माता-पिता आदि की सेवा सुश्रूषा करना आदि कर्त्तव्यों का पालन करके हम 'पितृ ऋण' से अनृण हो सकते हैं । यह अधिकार हमें विवाह के बाद ही प्राप्त होता है । गुरूकुल से लौटते हुए आचार्यशिष्य को आदेश देते हुए कहता है -

"प्रजातन्तुं मा व्यच्छेत्सीः" - तैत्तिरीय उपनिषद् १.११

अर्थात् - 'हे शिष्य ! वंशपरम्परा को न टूटने देना ।'

वैदिक आश्रम व्यवस्था में, गुरुकुल में ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर वेदाध्ययन पूर्ण करके जाने वाले स्वस्थ, सबल युवा व्यक्ति को गृहस्थ आश्रम के योग्य माना है । ब्रह्मचर्यहीन, निर्बल और रोगी व्यक्ति कभी गृहस्थाश्रम को सुखी और संतुष्ट नहीं बना सकते । इसके अतिरिक्त गृहस्थ को परिश्रमपूर्वक धनोपार्जन करके जहाँ अपने परिवार का भरण-पोषण करना पड़ता है, वहीं समाजसेवा की दृष्टि से

ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, संन्यास, इन तीन आश्रमवासियों का भी भिक्षादान आदि द्वारा भरण-पोषण करना होता है । परहित-परसेवा ही सबसे बडी मानवता है, अपना पेट तो कुत्ते-बिल्ली भी भर लेते हैं । इन्हीं बड़ी जिम्मेदारियों के कारण ऋषियों ने 'गृहस्थ' को सबसे बड़ा आश्रम कहा है -

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणे दानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्मात् ज्येष्ठाश्रमो गृही ।। - मनुस्मृति ३.७८

अर्थात्-'गृहस्थ में आने पर व्यक्ति का अपना एक परिवार बनता है । पति-पत्नि से बढ़ते-बढ़ते वह पुत्रों, पौत्रों-दौहित्रों तक बड़ा होता जाता है । गृहस्थ की उतनी ही जिम्मेदारियाँ बढ़ जाती हैं । यह परिवार सुखपूर्वक रहता है तो घर में ही स्वर्ग हो जाता है, दुःखी रहता है तो घर नरक बन जाता है । इसलिए परिवार के प्रत्येक सदस्य को वही कार्य करना चाहिए जिससे घर में सुखमय वातावरण बने । वह कार्य कभी नहीं करना चाहिए जिससे दुःख उत्पन्न हो । संक्षेप में, सुखी गृहस्थ का यह लक्षण है कि परिवार का प्रत्येक सदस्य मर्यादा और प्रेमभाव से रहता हुआ अपने कर्त्तव्यों का सत्यनिष्ठा से पालन करे । शास्त्रों में परिवार के सदस्यों के कर्त्तव्यों का विस्तार से उल्लेख मिलता है । पति और बाद में पिता बनने वाले पुरूष सदस्य का परिवार में प्रमुख कर्त्तव्य है- धन, अन्न आदि का उपार्जन करके परिवार का पालन-पोषण तथा संरक्षण करना, सन्तान को योग्य एवं स्वावलम्बी बनाना । परिवार को सुखी-संतुष्ट रखना । पत्नी को मित्रवत् मानकर प्रेम और आदरभाव से रखना । महाभारत में पत्नी के लिए कहा है - **''नास्ति भार्या समो बन्धु :''** (महा० शान्तिपर्व १४४.१५) अर्थात् 'पत्नी के समान कोई मित्र नहीं होता ।' वह अर्धांगिनी होती है अतः उससे व्यवहार भी आत्मवत् होना चाहिए । महर्षि मनु ने तो यहाँ तक कहा है -

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ।। -मनुस्मृति ३.५६

अर्थात्- 'जिस घर में नारियों की पूजा अर्थात् आदर-सत्कार होता है वहाँ

दिव्यगुणों, दिव्य सन्तानों का वास होता है । जहाँ इनका अनादर होता है वहाँ गृहस्थाश्रम की सभी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं ।'

पत्नी और बाद में माता बनने वाली स्त्री का कर्त्तव्य है कि वह पतिव्रता रहकर पति की सेवा करे, सच्ची मित्र बनकर रहे, पति के विरुद्ध आचरण न करे । वह घर की लक्ष्मी और व्यवस्थापिका होती है, अत : अनावश्यक व्यय न करते करते हुए भोजन-छादन, धर्मानुष्ठान आदि की व्यवस्था करते हुए घर को सुखी एवं उन्नत बनाये । परिवार के सभी सदस्यों से मधुर व्यवहार और प्रियभाषण रखे, प्रेम से रहे । सन्तानों का उचित रीति से पालन करे । अच्छे संस्कार देकर उनका निर्माण करे । एक वेदमन्त्र में अच्छी पत्नी के गुण इस प्रकार बतलाये हैं-

अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः ।
वीरसूर्देवृकामा सं त्वयैधिषीमहि सुमनस्यमाना ।।

- अथर्ववेद १४.२.१७

अर्थात् - पत्नी में ये गुण होने चाहिएँ-१. अघोरचक्षुः क्रूरदृष्टि एवं कठोरता पूर्ण न हो, सौभाग्य स्वभाव हो । २. अपतिघ्नी 'पति को आघात पहुँचाने वाली न हो, पति के विरुद्ध आचरण न करे । मधुर व्यवहार हो, प्रियभाषिणी हो । ३. स्योना - 'सुख देने वाली हो, दुःख पहुंचाने वाली न हो । ४. शग्मा-गृह कार्यों में दक्ष हो । ५. सुशेवा-उत्तम सेवा करने वाली हो । ६. सुयमा-घर में उत्तम व्यवस्था रखने वाली है । ७. वीरसू : - वीर सन्तानों को उत्पन्न करने तथा निर्माण करने वाली हो । ८. देवृकामा-पति के छोटे-बड़े भाइयों से मधुर व्यवहार करने वाली हो, उनसे घृणा-द्वेष न करे । ९. सुमनस्यमाना-निश्चल एवं प्रसन्न मन वाली हो । ऐसी पत्नी से ही परिवार में सुख-शान्ति रहती है, परिवार फूलता-फलता है ।

सन्तानों का कर्त्तव्य है कि वे आज्ञाकारिणी हों और माता-पिता का आदर-

सम्मान तथा सेवा करने वाली हों। वेद ने एक मन्त्र में उनके कर्त्तव्य इस प्रकार बतलाये हैं -

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ।।

- अथर्ववेद ३.३०.२

अर्थात्-पुत्र आदि सन्तान पिता-माता के अनुकूल चलने वाली हों, आज्ञाकारिणी हों। उनके बताये मार्ग पर चलें। माता के प्रति प्रेम और श्रद्धा का भाव रखकर रहें।

❖❖❖

पुण्य और पाप

अपने जीवन में मनुष्य मन, वाणी और शरीर से जो कर्म करता है, शास्त्रकारों ने उसे दो वर्गों में बाँटा है, जिन्हें पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ या अच्छे-बुरे कर्म कहा गया है। धर्मानुकूल होने के कारण अच्छे कर्मों को धार्मिक कर्म अथवा धर्म कहा गया है और अधर्मानुकूल होने के कारण बुरे कर्मों को अधार्मिक कर्म अथवा अधर्म कहा गया है। धर्म का फल सुख है और अधर्म का फल दुःख है। इसलिए मनुष्य को अधर्म अर्थात् पापकर्म आपत्ति में भी नहीं करने चाहिएँ। स्मृतिकारों ने सचेत कहते हुए कहा है -

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन् विपर्ययम् ।। - मनुस्मृति ४.१७१

अर्थात्-'अधर्मरूप पापकर्मों का शीघ्र ही और अवश्य ही बुरा फल मिलता है, यह समझते हुए मनुष्य को कभी पापकर्म में मन नहीं लगाना चाहिए अर्थात् पाप का मन में भी ध्यान नहीं करना चाहिए।' तभी मनुष्य सुख और शान्ति के साथ रह सकता है। यही नहीं, अगला जन्म भी उसे अच्छे कर्मों के आधार

पर ही अच्छा मिल सकता है । बुरे कर्मों के कारण दुःखपूर्ण जन्म मिलेगा । क्योंकि मनुष्य के साथ संसारत का कोई पदार्थ नहीं जाता केवल अच्छे-बुरे कर्मों के संस्कार साथ जाते हैं । उन्हीं के अनुसार उसकी भावी योनि और सुखी-दुःखी जीवन का निर्धारण होता है ।

कुछ लोग सोचते हैं कि पाप करके गंगा आदि तीर्थस्नान और दान आदि के द्वारा उन्हें दूर कर लेंगे अथवा मन्दिर में परमात्मा के लिए भेंट चढ़ाकर प्रार्थना करके क्षमा करा लेंगे । ये सब बातें भ्रान्तिपूर्ण तथा मिथ्या हैं । सभी को यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि किये हुए कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है और अपने कर्म स्वयं ही भोगने होंगे । दूसरा उनमें भागीदार नहीं हो सकता। हाँ, यदि किसी के पापकर्म में, अन्याय या अधर्म में परिवार के अन्य सदस्य पुत्र-पौत्र आदि भागीदार होते हैं तो उसका फल बेटे-पोतों तक को भोगना पड़ता है ।

यदि नात्मनिपुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु

न त्वेव कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः।। -मनुस्मृति ४.१७३

अर्थात् - 'यदि किये हुए अधर्म का फल कर्त्ता की विद्यमानता में पूरा नहीं होता तो पुत्रों के समय में' यदि पुत्रों के समय में भी पूरा नहीं होता तो पोतों के समय में भोगना पड़ता है । ऐसा नहीं हो सकता कि किये हुए कर्म का फल न मिले, अर्थात् वह तो अवश्य मिलेगा ।'

कभी-कभी हम देखते हैं कि पाप करने वाले को पाप का फल मिलता दिखाई नहीं पड़ता अपितु वह फलता-फूलता दिखाई पड़ता है । ऐसी स्थिति को देखकर अधिकतर लोग यह समझ बैठते हैं पाप का फल नहीं मिलता और फिर वे भी पापकर्म में लिप्त हो जाते हैं । किन्तु ऐसा नहीं होता । ऐसा सोचना उनकी अज्ञानता है । संसार में देखा जाता है कि कोई फसल दो मास में फल देती है, कोई छह मास में तो कोई वर्ष-दो वर्ष में । इसी प्रकार पापकर्म भी पुण्यों के साथ मिलकर उग्रता और शिथिलता के अनुसार फल देते हैं । कभी इकट्ठे होकर

विनाशकारी फल देते हैं । इतिहास इस बात का प्रमाण है कि कितने ही राजा अधर्म-अन्यायपूर्वक शासन करते हुए ठाठ से रहे किन्तु उनका अन्त बहुत बुरा हुआ अथवा उनकी भावी पीढ़ियाँ ही नष्ट हो गयीं। लोक में भी हम ऐसे परिवारों को देखते हैं । इसीलिए महर्षि मनु ने कहा है -

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ।। - मनुस्मृति ४.१७४

अर्थात् - **'अधर्म के द्वारा पहले मनुष्य बढ़ता हुआ दीखता है, फिर धन-प्रतिष्ठा'** आदि को भी प्राप्त करता है, फिर अन्याय से शत्रुओं को भी जीत लेता है । किन्तु अन्त में वह इस प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे कोई वृक्ष जड़ से उखड़ कर नष्ट हो जाता है ।' **इसीलिए मनुष्य को पापकर्मो से बचना चाहिए । पुण्यकर्म करने चाहिएँ,** पुण्यों से ही स्थायी समृद्धि आती है, वंश फलत-फूलता है । जीवन और घर में सुख-शान्ति रहती है । परजन्म उत्तम मिलता है ।

मनुष्य किस प्रकार पापकर्मों में प्रवृत्त होता है ? इस पर विचार करते हुए मनु कहते हैं -

इन्द्रियाणां प्रसंगेन धर्मस्यासेवनेन च ।
पापान् संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ।। - मनुस्मृति १२.५२

अर्थात् - 'मूर्ख और अधम कोटि के मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में फँसने से और धर्म का पालन न करने से पापकर्मों में प्रवृत्त हो जाते हैं ।' फिर जैसे-जैसे उन विषयों का बार-बार सेवन करते हैं उनमें उतनी ही आसक्ति बढ़ जाती है और वे संसार में लिप्त हो जाते हैं । इस प्रकार विषयों और अधर्म का सेवन ही पाप कर्मों का मूल है । जितेन्द्रिय बनकर मनुष्य पापों से बच सकता है ।

मनु ने सभी पापकर्मों को मानसिक, वाचिक और शारीरिक, इन तीन वर्गों में बाँट कर प्रमुख पापों का उल्लेख भी किया है । उनके अनुसार, दूसरे के धन-

पदार्थ को अपहरण या चोरी करने का विचार, दूसरों का बुरा सोचना, ईर्ष्या-द्वेष करना, गन्दी बातों का चिन्तन, ये प्रमुख मानसिक पाप हैं। कठोर भाषण, झूठ बोलना, चुगली करना, लांछन लगाना, ये प्रमुख वाचिक पाप हैं। चोरी करना, हिंसा करना, परस्त्रीगमन, ये प्रमुख शारीरिक पाप है। मनुष्य मानसिक पापों को मन से, वाचिक पापों को वाणी से, शारीरिक पापों को शरीर से भोगता है। यह भी बतलाया गया है कि मानसिक पापों की अधिकता होने से चाण्डाल आदि का नीच जन्म मिलता है। वाचिक पापों की अधिकता से पक्षी और पशुओं का जन्म मिलता है तथा शारीरिक पापों की अधिकता से वृक्ष-वनस्पतियों का जन्म मिलता है। इसलिए पापकर्म का विचार भी नहीं करना चाहिए। विचार ही नहीं आयेगा तो वाणी और शरीर से पाप होगा ही नहीं।

कर्त्तव्य कर्म कौन-से हैं और अकर्त्तव्य कौन से हैं, इसका शास्त्रों में स्पष्ट निर्धारण किया गया है, अतः उन ग्रन्थों से पुण्यों को जानकर उनका पालन करना चाहिए। करणीय कर्म की सामान्य परीक्षा इस प्रकार की जा सकती है -

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥ - मनुस्मृति ४.१६१

महर्षि दयानन्द इसका अर्थ करते हुए लिखते है-जिस कर्म के करने से मनुष्य की आत्मा को संतुष्टि एवं प्रसन्नता का अनुभव हो अर्थात् भय, शंका, लज्जा का अनुभव न हो, उस-उस कर्म को प्रयत्नपूर्वक करें। जिससे संतुष्टि एवं प्रसन्नता न हो उस कर्म को न करें। पुण्य ही आत्मा को प्रिय होते हैं।

❀❀❀

संस्कार

संस्कार शब्द का अर्थ है शुद्ध-पवित्र अथवा निर्मल करना। वैदिक जीवन पद्धति में 'संस्कार' ऐसे धार्मिक कृत्य हैं जिनके द्वारा व्यक्ति की आत्मा और

शरीर को पवित्र, परिष्कृत और उन्नत बनाया जाता है। व्यक्ति के संस्कारों को निर्मल बनाकर उसे श्रेष्ठ मनुष्य बनाने का प्रयास किया जाता है। संस्कारों के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए महर्षि मनु कहते हैं -

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च।।
गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौलमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते।।

- मनुस्मृति २.२६-२७

अर्थात् -'द्विज लोग अपने सन्तानों का वेदोक्त पुण्यकर्मों से गर्भाधान आदि संस्कार करें।' संस्कार इस जन्म तथा परजन्म में आत्माको पवित्र करने वाले हैं। गर्भाधान आदि संस्कारों के करने से द्विजों के वंशानुगत और जन्मजात संस्कारजन्य दोष और शारीरिक दोष दूर हो जाते हैं। इस प्रकार संस्कारों से आत्मा तथा शरीर दोनों को पवित्र करके मनुष्य को एक श्रेष्ठ, धार्मिक व्यक्ति बनाते हैं । इससे उसका वर्तमान जीवन तो अच्छा बनता ही है, अच्छे संस्कारों से अगले जन्म भी उत्तम और सुखी मिलते हैं। संस्कारों के अनुपालन से मनुष्य मोक्षप्राप्ति के योग्य बन जाता है। ऋषि दयानन्द भी लिखते हैं- ''जिस करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त हो सकता है और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं। अतः संस्कारों का करना सब मनुष्यों को अति उचित है।'' - संस्कारविधिभूमिका

बालक की उत्पत्ति की तैयारी के समय से लेकर मृत्यु के उपरान्त शरीर के अग्निसमर्पण पर्यन्त किये जाने वाले संस्कारों की संख्या सोलह है। ये सभी संस्कार यज्ञपूर्वक सम्पन्न किये जाते हैं । इस प्रकार जीवन के प्रत्येक प्रमुख अवसर पर यज्ञपूर्वक इनका आयोजन करके मनुष्य को सुसंस्कृत करने का प्रयास किया जाता है, मनुष्यत्व से देवत्व की ओर, महामानव की ओर अग्रसर किया जाता है। ये सभी संस्कार समाजकी प्रसिद्धिपूर्वक, यज्ञ के द्वारा सम्पन्न होते हैं।

प्रत्येक संस्कार के अवसर पर कुछ शिक्षाएँ दी जाती हैं, संस्कार्य व्यक्ति को कुछ श्रेष्ठ व्रत लेने होते हैं। अन्त्येष्टि के अवसर पर उपस्थित जन उसके संस्कार से शिक्षा ग्रहण करते हैं। यद्यपि आज सभी संस्कारों का आयोजन नहीं हो रहा है, फिर भी काफी संस्कार हैं जो आज भी प्रचलित हैं। प्राचीन काल ब्रम्हचर्य से जो व्यक्ति सीधा संन्यास लेना चाहता था उसके लिए समावर्तन, विवाह और वानप्रस्थ संस्कार अनिवार्य नहीं थे।

इन सभी संस्कारों में उपनयन संस्कार का अपना विशेष महत्त्व था । इसके साथ अधिकार और वर्ण का सम्बन्ध जुड़ा हुआ था । जिस बालक का उपनयन संस्कार हो जाता था उसे ही वेदाध्ययन और विद्याध्ययन का अधिकार प्राप्त होता था । ऐसा बालक 'द्विज' कहलाता था और वह ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य में से किसी वर्ण में दीक्षित हो सकता था । उपनयन से रहित व्यक्ति शूद्र कहलाता था । अशिक्षित होने के कारण उसे सेवाकार्य करना पड़ता था । १६-२४ वर्ष तक की अवधि उपनयन के लिए अन्तिम सीमा थी । इसके पश्चात उपनयन कराने का अधिकार समाप्त हो जाता था । ऐसा व्यक्ति 'व्रात्य' अर्थात् व्रत से पतित कहलाता था और आर्यों के समाज में निन्दनीय माना जाता था । सत्य ही है, अनपढ़-गंवार व्यक्ति जीवन के उन्नति के अवसरों से सदा-सदा के लिए वंचित रह जाता है । अशिक्षा अभिशाप है, अत: अशिक्षा के विस्तार को रोकना वैदिक समाज का पावन लक्ष्य था ।

वे सोलह संस्कार इस प्रकार हैं-

१. **गर्भाधान संस्कार** - विवाह होने के उपरान्त यज्ञ के आयोजन पूर्वक उत्तम सन्तान उत्पन्न करने के लिए सुसंस्कारपूर्वक गर्भ स्थापन करना ।

२. **पुंसवन संस्कार** - गर्भ धारण के दूसरे अथवा तीसरे मास में पुत्रोत्पति के लिए आयुर्वेदीय विधि तथा यज्ञानुष्ठान करना ।

३. **सीमन्तोन्नयन संस्कार** - गर्भ के चतुर्थमास में गर्भ की पुष्टि के लिए तथा गर्भिणी के आरोग्य के लिए विधि एवं अनुष्ठान ।

४. **जातकर्म संस्कार** - शिशुजन्म के अवसर पर किया जाने वाला संस्कार, जिसमें सोने की शलाका से घृत और मधु चटाया जाता है ।

५. **नामकरण संस्कार** - जन्म के १० वें, १०१वें दिन, बालक जब एक वर्ष का होवे तब अथवा उससे पूर्व किसी सुविधापूर्ण दिवस में नाम रखना।

६. **निष्क्रमण संस्कार** - चतुर्थ मास में बालक को घर से बाहर ले जाना ।

७. **अन्नप्राशन संस्कार** - छठे मास में बालक को अन्न आदि सेवन प्रारम्भ कराना।

८. **मुण्डन संस्कार** - प्रथम अथवा तृतीय वर्ष में प्रथम बार केश उतरवाना ।

९. **उपनयन संस्कार** - शिक्षा- दीक्षा के लिए बालक को गुरुकुल में छोड़ना और यज्ञोपवीत देना ।

१०. **वेदारम्भ संस्कार** - गुरुकुल में रहते हुए वेदाध्ययन प्रारम्भ करना ।

११. **केशान्त संस्कार** - युवावस्था के प्रारम्भ में केशकर्त्तन कराना ।

१२. **समावर्तन संस्कार** - स्नातक बनने के बाद गुरुकुल से घर को लौटते समय।

१३. **विवाह संस्कार** - गृहस्थाश्रम में जाने के लिए स्त्री-पुरुष का परस्पर प्रसन्नतापूर्वक दाम्पत्य सम्बन्ध होना ।

१४. **वानप्रस्थ संस्कार** - पुत्र के पुत्र होने पर घर को त्याग कर वन में आकर रहना । वनस्थ दीक्षा लेना ।

१५. संन्यास संस्कार - सर्वस्व त्यागकर एकाकी तपस्या एवँ विचरण के लिए दीक्षा लेना । ब्रह्म में लीन रहकर मोक्ष प्राप्ति के प्रयत्न करना । धर्मोपदेश द्वारा जनता को सदाचरण की शिक्षा देना ।

१६. अन्त्येष्टि संस्कार - मृत्यु के उपरान्त शरीर का घृत आदि सुगन्धित द्रव्यों के द्वारा यज्ञानुष्ठानपूर्वक दाहकर्म करना ।

***

।। ओ३म् ।।

आर्यसमाज के नियम

१. सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदि मूल परमेश्वर है ।

२. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है । उसी की उपासना करनी योग्य है ।

३. वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है । वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है ।

४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

५. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए ।

६. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना ।

७. सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए ।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए ।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए ।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें ।

- महर्षि दयानन्द सरस्वती